विवेक को प्राण-प्राण पुकारती पुस्तक

`थकी हुई औरत के चेहरे की सिकुड़नें
किसी एक परिवार की लंबी मुश्किलों की
आड़ी सतरें हैं
उनकी लिखावट कुछ अलग दूसरों से है
क्योंकि परिवार के पुरखों ने अलग-अलग
भाषाएँ लिख दी हैं।'
- रघुवीर सहाय
(अंतिम कविता : `एक समय था ': 25 दिसंबर 1990 से)


प्रफुल्ल कोलख्यान

सुभाषिनी अली की पुस्तक `खबर लहरिया' में विभिन्न समय पर लिखे उनके लेख संकलित हैं। हालाँकि, इस पुस्तक में दूसरे विषयों पर लिखे लेख भी संकलित हैं, लेकिन इस पुस्तक का महत्त्व महिलाओं की समस्याओं पर घटनाओं के आइने में किये गये विचार विश्लेषण से बनता है। `स्त्री विमर्श' को महिला जीवन के जिन संदर्भों को खासकर ध्यान में रखा जाना चाहिए, उन्हें इस पुस्तक के लेखों में बड़ी हमदर्दी के साथ सामने लाने का प्रयास किया गया है।

सुभाषिनी अली का कानपुर से बहुत आत्मीय संबंध रहा है। `स्त्री विमर्श' पर उनकी पुस्तक `खबर लहरिया' को देखते ही, उसी कानपुर में कहे डॉ. भीमराव अंबेडकर की बात रखना प्रासंगिक लगता है। बाबासाहब ने कहा था, `इस अधिवेशन (कानपुर) में हिंदुस्तान के अधिकांश प्रांतों से प्रतिनिधि उपस्थित हुए हैं। विशाल जनसमुदाय को देखकर मुझे बहुत राहत महसूस हो रही है। परंतु इस समुदाय में स्त्रियाँ बहुत कम हैं। हमारे महाराष्ट्र में स्त्रियाँ सभी सभाओं में हाजिर रहती हैं। हमारी ओर स्त्रियाँ परदा नहीं रखतीं। पति एवं पत्नी दोनों ही समान रूप से सामाजिक कार्यों में भाग लेते हैं। आप लोगों को भी ऐसे ही भाग लेना चाहिए, वरना हमारे समाज का उद्धार संभव नहीं।'[1](सामाजिक क्रांति के दस्तावेज -2 : संपादक शंभुनाथ)। जहाँ तक `स्त्री विमर्श' की बात है, कहाँ नहीं है, `कानपुर'! यह बहुत ही दुखद स्थिति है कि आजादी के इतने दिनों के बाद भी, `हमारे समाज का उद्धार संभव नहीं' हुआ है। इतना ही नहीं आजादी के बाद, दिन-प्रतिदिन महिलाओं की सामजिक-राजनीतिक भागीदरी कम ही होती गई है। ऐसा क्यों हुआ? यह एक कठिन सवाल है। `स्त्री मुक्ति' के संदर्भ को ठीक से समझने के लिए इस कठिन सवाल का उत्तर ढूढ़ना ही होगा, कि क्यों महिलाओं की सामजिक-राजनीतिक भागीदरी कम होती गई है। मधु किश्वर अपनी पुस्तक `ऑफ द बिटेन ट्रैक' में दर्ज करती हैं कि `महात्मा गाँधी के नेतृत्व में हुए स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान राजनीति में महिलाओं की भागीदारी आज से कहीं अधिक थी। गुंडा और अपराधी तत्त्वों के राजनीति में बढ़ते वर्चस्व के कारण यौन हिंसा, परेशानियों, कलंक का भय समय के साथ बढ़ता ही गया है। असुरक्षा के माहौल में महिलाएँ आज राजनीतिक दलों में खतरा महसूस करती हैं। इससे, यह बात स्पष्ट होती है कि जो थोड़ी बहुत महिलाएँ राजनीति में आज सक्रिय हैं, या जो राज्य विधान सभाओं या संसद के लिए चुनी गई हैं, वे पुरुषों के बीच किसी प्रभावशली राजनेता की पत्नी, बेटी या बहन के रूप में ही खुद को सुरक्षित महसूस करती हैं। .... राजनीति में सक्रिय महिलाएँ आसान शिकार होती हैं क्योंकि राजनीतिक जरूरतों के कारण उन्हें निरंतर जनसंपर्क में रहना पड़ता है। राजनीति में शामिल होनेवाली महिलाएँ चाहे वे पंचायत, जिला परिषद, राज्य विधान सभा या संसद के स्तर की हों, या छात्र संगठन

1शंभुनाथः सामाजिक क्रांति के दस्तावेज 2: वाणी प्रकाशन, 2004

और श्रमिक संगठनों के स्तर की ही क्यों न हों, `कलंक' से बच नहीं पाती हैं।'[2] दिक्कतें दूसरी भी हैं। राजनीतिक दलों में ही नहीं महिलाएँ परिवार में ही पूरी तरह कहाँ सुरक्षित हैं। `घरेलू हिंसा की पक्षधरता' में सुभाषिनी अली `घर के अंदर' की सचाई समने रखते हुए कहती हें कि `घर के अंदर होनेवाली हिंसा हमारे समाज की ढकी-छिपी सबसे बड़ी सचाई बनी रही। भारत सरकार के नेशनल क्राइम रिकॉर्ड ब्यूरो के मुताबिक 1999 में पारिवारिक हिंसा की तस्वीर कुछ इस प्रकार थी: दहेज हत्या के दर्ज मामलों में 17.1 मामलों का निबटारा हुआ, 82.9 लंबित रहे। इसके अलावा पति और परिजनों द्वारा क्रूरता के 1 लाख 92 हजार 5 सौ 75 मामलों में कुल 3416 मामलों में सजा हुई बाकी 14,556 अभियुक्त छूट गये। 1 लाख 20 हजार 9 सौ 22 मुकदमे लंबित ही रहे। सरकारी आँकड़े बताते हैं कि हमारे देश में (अप्राकृतिक) मौत का सबसे बड़ा कारण घरेलू हिंसा है। सबसे अधिक लोग (और ये औरतें ही होती हैं) इसी के कारण मरते हैं। आतंकवाद, रेल दुर्घटना, सबको मात दिया है घरेलू हिंसा ने।'[3] स्थिति की भयावहता का अंदाजा इस तथ्य से लगाया जा सकता है। इस भयावह स्थिति के लिए जिम्मेवार कौन है? धर्म, परंपरा और नैतिकता की दुहाई देते जो लोग थकते नहीं हैं उनके जवाब समझने के लिए सुभाषिनी अली याद दिलाते हुए कहती हैं, `एक वाक्य का मैं जिक्र करूँगी जो 1991 में उत्तर प्रदेश में बनी भाजपा सरकार ने समाज शास्त्र के पाठ्यक्रम की पुस्तक में जुड़वाया था। वह वाक्य था, ``जबसे महिलाओं को कानूनी अधिकार मिले हैं तब से घर की कलह बढ़ गई है।" अधिकार वापस ले लो तो घर की कलह भी शांत हो जायेगी।'[4] ऐसे लोगों के धर्म, परंपरा और नैतिकता की चौहद्दी में ही नहीं, उनके `भारत बोध' में भी कमजोरों, चाहे वह दलित हों, पिछड़े हों, अल्पसंख्यक हों या फिर उनके परिवार की महिलाएँ ही क्यों न हों, के लिए कोई जगह नहीं है!

आजादी के बाद साक्षरता-दर एवं अन्य स्थितियों में सकारात्मक बदलाव भी हुए हैं, इनकी गति भले ही बहुत संतोषजनक न हो, मगर बदलाव से एकदम इनकार करना सचाई से मुँह मोड़ना है। महिलाओं आर्थिक स्थिति भी पहले से अच्छी हुई प्रतीत होती है, फिर महिलाओं के साथ ऐसा क्या हुआ उनकी सामाजिक राजनीतिक भागीदारी कम होती चली गई। `A status Report on participation of women in Panchayatiraj, Institute of social Sciences, New delhi,1995' के संदर्भ से मधु किश्वर केरल और राजस्थान की स्थितियों पर तुलनात्मक विचार करते हुए कहती हैं, `हमारे विधायी निकायों में महिलाओं के कम प्रतिनिधित्व के कारणों को समझना बहुत मुश्किल है, क्योंकि साक्षरता और इसी तरह के तार्किक आधारों से इसका संबंध बिठाना कठिन है। केरल और राजस्थान में साक्षरता दर की स्थिति एक दूसरे के बिल्कुल विपरीत है। इनके तुलानात्मक विश्लेषण के निष्कर्ष से यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है। बताया जाता है कि केरल में सकल साक्षरता दर 90 है और महिला साक्षरता दर 86 है। इसके ठीक उलट राजस्थान में महिला साक्षरता दर 20 है ओर ग्रामीण क्षेत्र में तो सिर्फ 12 महिलाएँ ही साक्षर हैं। केरल में मातृमूलक परंपराओं के कारण महिलाओं को सक्रिय होने की अधिक सवायत्तता और आजादी है। दूसरे राज्यों की तुलना में केरल में महिलाओं की शादी भी अधिक उम्र में होती है। राजस्थान में पितृ-सत्तात्मकता के वर्चस्व के कारण महिलाओं का जीवन अधिक प्रतिबंधित है, बहुत सारे समुदायों में महिलाएँ परदा में रहती हैं, उनकी शादी भी कम उम्र में होती है, बालविवाह भी प्रचलन में है। फिर भी केरल में महिलाओं को हासिल सांस्कृतिक और शैक्षणिक बढ़त से उनकी राजनीतिक भागीदारी नहीं बढ़ पाई है। केरल की विधान सभा में महिलाओं का प्रतिशत 1967 में 1 था जो 1991 में बढ़कर 6 हो गया। राजस्थान में महिलाओं की भागीदारी का प्रतिशत 1967 में 4 था जो 1985-90 में 8 हो गया। ... उत्तर प्रदेश, बिहार और मध्य प्रदेश, जहाँ शैक्षणिक स्तर नीचे है, जहाँ महिलाओं पर अधिक दबाव है, लोकसभा में उनका अनुपात अपेक्षाकृत अधिक है, वे अधिक संख्या में विधायक भी हैं।'[5]

महिलाओं की भागीदारी का अधिक प्रतिशत महिलाओं की समस्याओं को दूर करने या कम करने का कोई राजनीतिक सामाजिक आधार मुहैय्या नहीं करता है। यह एक ऐसी सचाई है जो किसी भी सरलीकृत समझ से विकृत हो सकती है।

2Madhu Kishwar : off the beaten track rethinking gender justice for indian women : Women's Marginal role in Politics : Oxford University press 1999

3सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः घरेलू हिंसा की पक्षधरता

4सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः घरेलू हिंसा की पक्षधरता

5Madhu Kishwar : off beaten track rethinking gender justice for indian women : Women's Marginal role in Politics : Oxford University press 1999

राजनीति में `महिलाओं की भागीदारी' का सवाल तो महत्त्वपूर्ण है ही, लेकिन महिलाओं के मुद्दों का सार्वजनिक और राजनीतिक मुद्दा नहीं बन पाना ही असली सवाल है। सुभाषिनी अली इस सवाल को उठाते हुए कहती हैं, `आखिर ऐसा क्यों है कि आधी आबादी होने के बावजूद हम महिलाएँ अपने मुद्दों को सार्वजनिक और राजनैतिक मुद्दा नहीं बना पाये हैं? शायद इसलिए कि हमारे अपने लिए भी अपनी पहचान एक महिला के रूप में नहीं है। हमारे अपने लिए भी हमारी अपनी पहचान किसी जाति या समुदाय के सदस्य के रूप में ही है या फिर किसी परिवार के एक सदस्य के रूप में – माँ, बहन, बेटी, ननद, भाभी – ही है। अगर हमारी अपनी कोई स्वतंत्र पहचान महिला के रूप में, अपने लिए होती तो अपने हितों के बारे में भी सामूहिक तौर पर सोच पाते और उनको मनवाने के लिए एक दूसरे के साथ जुड़कर हम अपनी ताकत को एकत्रित कर पाती।'[6] कुछ लोगों की धारणा यह भी रही है कि `स्त्री मुक्ति' पर अलग से विचार करना गैर-जरूरी है। `सब की मुक्ति' के साथ `स्त्री मुक्ति' के सवाल भी स्वत: हल हो जायेंगे। `सब की मुक्ति' का मुहावरा बड़ा आकर्षक है। भारतीय आजादी के संघर्ष के दौरान भी `सब की मुक्ति' के मुहावरे का प्रयोग हुआ था। इतिहास गवाह है कि यह आजादी के आंदोन के दौरान ऊपजी समता की मानवीय आकांक्षा इतिहास का सबसे क्रूर परिहास साबित हुई। इस परिहास की क्रूरता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि सुनामी में बचे हुए लोग, जिन्होंने मृत्यु को इतने नजदीक से देखा है, उनके बीच राहत वितरण में भी दलित और गैर-दलित की भेदभावमूलक भावनाओं की `सांस्कृतिक सुनामी लहरों' के सक्रिय होने की बात सामने आ रही रही है। यह एक ऐसा दुखद प्रसंग है जो, आजादी के इतने दिनों बाद भी हमारे जातीय दिमाग में बना हुआ है। जाहिर है कि `स्त्री मुक्ति' के संदर्भ में जो लोग `सब की मुक्ति' के मुहावरे का हवाला देते हैं, उन्हें इस मुहावरे में छिपे छल को पहचानना चाहिए। जीवन के दूसरे प्रसंगों में महिलाओं की भागीदारी बढ़ी है, जैसा कि `महिला आरक्षण से खिलवाड़' में सुभाषिनी अली कहती हैं, `बड़े पैमाने से घरों से औरतों का निकलना, उनका सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करना, प्रभावशाली पदों को सम्हालना – इन सारी बातों ने घरों के अंदर और घरों के बाहर महिलाओं के स्थान और स्तर में परिवर्त्तन लाने का काम किया है। पल्ला केवल बिहार की मुख्यमंत्री के सर से ही नहीं सरका है, हजारों-लाखों महिलाओं के माथे से धीरे-धीरे सरकने लगा है।'[7] लेकिन जब तक सामाजिक-राजनीतिक क्षेत्र में उनकी भागीदारी का मान नहीं बढ़ता है, जब तक महिलाओं के मुद्दे सामाजिक-राजनीतिक सक्रियता के केंद्र में नहीं आते हैं तब तक समता के संकल्पों का पूरा होना असंभव ही बना रहेगा। राजनीति में शोषितों, पीड़ितों की भागादारी बढ़ाने के उपाय के रूप में आरक्षण नीति का कोई सकारत्मक योगदान नहीं रहा है, ऐसा मानना गुनाह है। हाँ, यह तो कहा जा सकता है कि आरक्षण की नीति से जितना लाभ होना चाहिए था, उतना नहीं हो पाया है। दूसरी तरफ सोचने की बात यह भी है कि यदि आरक्षण की नीति नहीं होती तो समाज के मनोभाव में जो थोड़ा बहुत बदलाव हुआ है, वह भी नहीं होता। राजनीति में महिलाओं की सक्रिय भागीदारी को बढ़ाने के उपाय के संदर्भ में महिला आरक्षण विधेयक की स्थिति पर गौर करते हुए `महिला आरक्षण से खिलवाड़' शीर्षक से संकलित लेख में सुभाषिनी अली कहती है, `यह कैसी विडंबना है कि जनतांत्रिक अधिकारों का हनन करनेवाले `पोटा' को परित करने के लिए दोनों सदनों की संयुक्त बैठक बुलाई जा सकती है, लेकिन महिलाओं के संवैधानिक अधिकारों के लिए हिम्मत नहीं जुटाई जा सकती है। एक बात तय है कि जब-जब महिला आरक्षण विधेयक संसद के पटल पर लाया जाता है, तब-तब महिलाओं के रानैतिक और अन्य अधिकारों की चर्चा इसी बहाने होने लगती है। इस विधेयक की वजह से यह तो पता चलता है कि महिलाओं के इन अधिकारों का भी कोई महत्त्व है। असल में महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों की लड़ाई कहीं भी आसानी से नहीं लड़ी गई है।'[8]

वैश्वीकरण के बढ़ते दबाव के बीच धर्म और बाजारवाद का संश्रय नये सिरे से मजबूत हो रहा है। इस संश्रय में भटकाने के तमाम गुर हैं। एक खास तरह का `स्त्री विमर्श' वैश्वीकरण की उच्छृँखलताओं में ही `स्त्री मुक्ति' की संभावनाओं को टटोलता है। शंभुनाथ `स्त्री विमर्श की मुश्किलों' को समझने की कोशिश करते हुए कहते हैं, `स्त्री विमर्श के एक बड़े हिस्से में वैश्वीकरण को स्त्री-मुक्ति के महाद्वार के रूप में देखा जा रहा है। उत्तर-आधुनिक स्त्री विमर्श में जिस तरह नवजागरण के सुधारों

6सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः महिलाओं की सुरक्षा और भविष्य

7सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः महिला आरक्षण से खिलवाड़

8सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः महिला आरक्षण से खिलवाड़

से संतोष नहीं है, उसी तरह आरक्षणों और कल्याणकारी योजनाओं से भी नहीं है। ... एक खास दुनिया का स्त्री विमर्श मामले को पितृसत्ता को चुनौती से आगे मर्द से विद्रोह तक ले जाता है।'[9] धर्म और बाजारवाद आज मनुष्यता की एकता के लिए जितना बड़ा आधार बनाता है, उसे कहीं अधिक बड़ा-बड़ा कारण मनुष्य को बाँटने का बनाता है। मनुष्यता के लिए धर्म और बाजारवाद के संश्रय से ऊपजे विषाणु सबसे अधिक खतरनाक हैं। भारत इस विषाणु के दुष्प्रभाव में सबसे अधिक है। सुभाषिनी अली ठीक ही रेखांकित करती हैं कि `चाहे `इस्लामी राष्ट्रवाद' हो या `हिंदू राष्ट्र' – महिलाओं को ना हिंदू माना जाता है ना मुसलमान। इन राष्ट्रों की नींव ही महिलाओं और अन्य सामाजिक समूहों की असमानता और उत्पीड़न है। यह संयोग नहीं है। यह दोनों तरह के तथाकथित धार्मिक राष्ट्र समानता ओर जनवाद के दुश्मन हैं, इसलिए दोनों में ही सबसे कमजोर का सबसे अधिक सताया जाना स्वाभाविक है।'[10] यही कारण है कि वे इस बात को ठीक तरह से समझती हैं कि भारत में `स्त्री मुक्ति' का संघर्ष प्राथमिक तौर पर अनिवार्यत: `हिंदू राष्ट्र' और `बाजारवद' की किसी भी कुचेष्टा से टकराकर ही आगे बढ़ सकता है। भारत में `हिंदू राष्ट्र' और `बाजारवद' से टकराव `सब की मुक्ति' के लिए भी अनिवार्य है और `स्त्री मुक्ति' के लिए भी अनिवार्य है। टकराव की यही संयुक्त अनिवार्यता `सब की मुक्ति' के संघर्ष और `स्त्री मुक्ति' के संघर्ष को आपस में जोड़ देती है। इस बात को पूरी गंभीरता से सभी महिला संगठन या तो समझ नहीं पाती हैं, या फिर अपने वर्गीय हितों की मिथ्या समझ उन्हें ऐसा समझने से सायास रोक देती हैं। शंभुनाथ `स्त्री विमर्श' की मुश्किलों पर चर्चा करते हुए प्रेमचंद को याद करते हैं, `स्त्रियों में वर्ग का अस्तित्व है, फिर भी इस मामले पर गौर नहीं किया जाता। स्त्रीवाद उच्च या उच्च-मध्यवर्गीय परिवार का मामला है। उच्च और मध्यवर्गीय स्त्रियों की जिंदगी में दासता के पुराने और नए दोनों रूप मौजूद हैं। वे स्वच्छंदता और दासता के फेंस पर होती हैं। यह कम बड़ी विडंबना नहीं है कि ये स्त्रियाँ `स्वतंत्रता' और `सुरक्षा' दोनों एक साथ चाहती हैं। प्रेमचंद के एक आरंभिक उपन्यास `वरदान' में का एक दृश्य है, जिसमें एक मध्यवर्गीय स्त्री विरजन अपने घरेलू कैदखाने की खिड़की से उन स्वच्छंद मजदूर औरतों को निहारती है, जो अल्लसुबह काम पर जा रही थीं, ``स्त्रियाँ अनाज का खेत काटने जा रही थीं। झाँक कर देखा तो दस-बारह स्त्रियों का एक गोल था। सबके हाथों में हँसिया, कंधों पर गठियाँ बाँधने की रस्सी और सिर पर भुने हुए हुए मटर की छबड़ी थी। ये इस समय जाती थीं, कहीं बारह बजे लौटेंगी। आपस में गाती चुहलें करती चली जाती थीं।" इस वर्ग की स्त्रियों का स्त्री विमर्श वही नहीं होगा, जो बौद्धिक महत्त्वाकांक्षाओं, वाग्विलास और किटी पार्टी तक सीमित संपन्न महिलाओं का स्त्री विमर्श है।'[11] सुभाषिनी अली भी अपने लेख `हिंदी प्रेम' में प्रेमचंद का संदर्भ उठाती हैं, विश्लेषण करती हैं और निष्कर्ष निकालती हैं, उन्हीं के शबदों में, ``निर्मला' में कहीं भी महिला पात्रों को केवल आदर्श भारतीय नारियों के रूप में नहीं पेश किया गया है। उनके व्यवहार के द्वारा अन्य महिलाओं को पहुँचाया गया कष्ट बहुत ही तफसील के साथ रेखांकित किया गया है, लेकिन यह समझ उस उपन्यास के हर शब्द से टपकती है कि पुरुष-प्रधान समाज-व्यवस्था और असमान समाज पर हावी प्रलोभन की भावना मूल रूप से व्यक्तियों – यानी महिलाओं और पुरुषों – दोनों के व्यवहार को पूरी तरह से प्रभावित करती है और उनकी जिंदगी को तबाह कर देती है। इतना ही नहीं, अंधविश्वास और पोंगापंथी समझ पर भी उपन्यास में लगातार प्रहार होते हैं। ... अफसोस की बात तो यह है कि `निर्मला' को हटाये जाने का विरोध अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति के अलावा किसी महिला संगठन ने नहीं किया जबकि इसका विरोध सुधार की पक्षधर तमाम महिलाओं को करना चाहिए था। यह चुप्पी इस बात की परिचायक है कि हमें अपनी ही, अपने ही देश ओर प्रदेश की, सुधारवादी महिला परंपराओं को समझने की और उनके साथ अपने आपको जोड़ने की कितनी आवश्यकता है!'[12] अपने ही देश ओर प्रदेश की, सुधारवादी महिला परंपराओं को समझने की और उनक साथ अपने आपको जोड़ने की आवश्यकता की यही समझ सुभाषिनी अली के `स्त्री विमर्श' को `नारीवाद' की कतिपय संकीर्णताओं से बाहर निकालकर उसे `स्त्री मुक्ति' की सही सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष की वास्तविक जमीन पर ला खड़ी करती है। शंभुनाथ सही सवाल उठाते हैं कि, `जिस देश में हर रोज 60 महिलाएँ खुदकुशी करती हैं, हर साल लगभग 16 हजार लड़कियों का अपहरण होता है, 7 हजार दहेज हत्याएँ होती हैं एवं जिस समाज में बलात्कार, छेड़खानी,

---

9शंभुनाथः हिंदी नवजागरण और संस्कृति: स्त्री विमर्श की मुश्किलें: आनंद प्रकाशन 2004

10सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः धर्म के नाम पर

11शंभुनाथः हिंदी नवजागरण और संस्कृति: स्त्री विमर्श की मुश्किलें: आनंद प्रकाशन 2004

12सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः हमारे देश में हिंदी प्रेम

देह-वयापार, यौन उत्पीड़न, घरेलू यातना आदि का ग्राफ बढ़ता जा रहा है, उस समाज में कुछ अल्ट्रा मॉड स्त्रीवादियों का अति-स्वायत्त संसार अंतत: उन्हें कहाँ ले जाता है।'[13] `स्त्री मुक्ति' का सही संघर्ष परिवार के मूल्यों को विघटित नहीं करता है, उसे अधिक जनतांत्रिक, कुंठा मुक्त और मानवीय चेतना से संपन्न करता है। `स्त्री मुक्ति' का संघर्ष दरअसल, किसी स्वैराचारी अति स्वायत्त संसार की तलाश नहीं करता है बल्कि परिवार को जनतांत्रिक मूल्यों से संपन्न करने के लिए पारिवारिक और मानवीय अंतर्निभरताओं के महत्त्व पर अमल करने का सांस्कृतिक आधार रचता है। प्रेमचंद को याद करते हुए शंभुनाथ कहते हैं, `उस जमाने में प्रेमचंद जेसे व्यक्ति भी परिवार और विवाह के परंपरागत अजनतांत्रिक रूप के विरोधी थे, न कि उनके लिए परिवार और विवाह ही अप्रासंगिक थे। प्रेमचंद लिखते हैं, ``जो विद्या पढ़कर पुरुष रोटी कमाता है और इसीलिए स्त्री को अपनी लौंडी समझता है, वही विद्या स्त्रियाँ भी सीखना चाहती हैं !" (विविध प्रसंग-3)। ... वे स्त्री-पुरुष संबंध का एक-दूसरे से मुक्ति या `स्त्रीवाद' के रूप में नहीं, बल्कि `दो बराबरों की अंतर्निर्भरता' के रूप में देखते हैं। भारतीय नवजागरण का निष्कर्ष यही है।[14] कहना न होगा कि नवजागरण की परियोजनाएँ अधूरी हैं, मगर मरी नहीं हैं; अभी भी जीवित हैं।

`स्त्री विमर्श' पर केंद्रित सुभाषिनी अली की पुस्तक `खबर लहरिया' इस अर्थ में भी एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है कि इसमें आये विचारों और अनुभवों को स्त्री मुक्ति के संघर्ष के बीच अर्जित किया गया है। स्त्री मुक्ति के इस विमर्श को सामाजिक-राजनीतिक विकास और इस विकास के अनुभव के साथ बौद्धिक हस्तक्षेप के संदर्भ में देखना दिलचस्प है। विचार और व्यवहार का मणिकांचन संयोग इस पुस्तक को अपने तरह की महत्त्वपूर्णता प्रदान करती है। यही कारण है कि विभिन्न अवसरों और विभिन्न संदर्भों में लिखे और प्रकाशित लेखों को `खबर लहरिया' में एक साथ पढ़ना एक भिन्न तरह के संघर्ष और दायित्वबोध को हासिल करने का अवसर उपलब्ध कराता है। सुभाषिनी अली का दृष्टिकोण मुख्य रूप से मार्क्सवाद के संदर्भ से विकसित हुआ है।`खबर लहरिया' के विचार पक्ष पर गौर करने से यह बात बिल्कुल साफ-साफ समझ आती है कि मार्क्सवाद दृष्टि का निर्माण करता है, दृश्य का निर्धारण नहीं। मार्क्सवाद शोषित-वंचित वर्गों की संवेदना को सही परिप्रेक्ष्य में समझने का विवेक देता है साथ ही जातीयता, समुदायिकता, लैंगिकता जैसी विभाजन की किसी भी लकीर से ऊपजनेवाले दर्द को समझने का व्याकरण भी रचता है। `सामंती समाज के खिलाफ संघर्ष' की जरूरत की तीव्रता कितनी बढ़ गई है, इसे इस संदर्भ से महसूस किया जा सकता है कि `उत्तर प्रदेश के जौनपुर में 18/19 अगस्त की रात में एक वृद्धा के साथ बलात्कार किया गया। वह रात को अपने खेत में पंपसेट के पास सो रही थी। वहीं नशे में धुत एक व्यक्ति पहुँचा जिसने उसके साथ बलात्कार किया और फिर उसे अपनी लाठी से पीटा। वह अधमरी पड़ी रही। सुबह उसे गाँववालों ने अस्पताल पहुँचाया, जहाँ उसने अपना बयान दिया। उसके बाद वह मर गई। मुंबई के लोकल ट्रेन में 14/15 अगस्त की रात शायद उसी समय जब 55 वर्ष पहले भारत जाग उठा था, एक 13 वर्षीय लड़की के साथ बलात्कार हुआ। ट्रेन के उस डिब्बे में 3 अन्य लोग भी थे, जो मूक दर्शक बनकर पूरी घटना देखते रहे।'[15] वह वृद्धा मर गई तो क्या बची रह गई हमारी तथाकथित महान संस्कृति! सवाल यह कि हम कब तक मूक दर्शक बने रहेंगे? ट्रेन के उस डिब्बे में जो तीन लोग थे सिर्फ वे ही मूक दर्शक नहीं थे। अपने आप से एक सवाल ईमानदारी से पूछना चाहिए कि क्या हम सब कहीं-न-कहीं मूक दर्शक बने हुए ही नहीं रह जाते हैं! यदि हम सही तरीके से संगठित नहीं होते हैं तो मूक दर्शक बने रहने के अलावा हम कर भी क्या सकते हैं! कहना न होगा कि इस तरह का अध्ययन मार्क्सवाद के जीवित और वैज्ञानिक दर्शन होने की भी सूचना करता है। विज्ञान सदैव नये अनुभवों के प्रति आग्रहशील बना रहता है, प्रामाणिक अनुभवों को अपने में शामिल करता हुआ जीवित और प्रासंगिक बना रहता है और मनुष्य को मनुष्यता की सामग्रिक जीत के लिए संगठित होने की प्रेरणा देता है। सुभाषिनी अली की इस पुस्तक में भी यह अंत:प्रेरणा है कि स्थिति भयावह है तो इस स्थिति का सामग्रिक प्रतिरोध किया जाना अनिवार्य दायित्व है। इस दायित्व को पूरा करने के लिए संगठित होना जरूरी है; `विमर्श' जरूरी तो है, परंतु पर्याप्त नहीं है। क्या हुआ यदि `थकी हुई औरत के चेहरे की सिकुड़नें, किसी एक परिवार की लंबी मुश्किलों की आड़ी सतरें हैं। क्या हुआ, यदि परिवार के पुरखों ने उनक चेहरे

13शंभुनाथः हिंदी नवजागरण और संस्कृति: स्त्री विमर्श की मुश्किलें: आनंद प्रकाशन 2004

14शंभुनाथः हिंदी नवजागरण और संस्कृति: स्त्री विमर्श की मुश्किलें: आनंद प्रकाशन 2004

15सुभाषिनी अलीः खबर लहरियाः सामंती समाज के खिलाफ संघर्ष

पर अलग-अलग, भाषाएँ लिख दी हैं।' सब कुछ के बावजूद जितनी शीघ्रता से अपने चेहरे से झुर्रियों को उतार सकती हैं औरतें, उतार सकती हैं पूरी सभ्यता की सदियों की थकान वह किसी के भी मन में भरोसा और विश्वास पैदा कर सकता है। इसी भरोसे और विश्वास के साथ `खबर लहरिया' पाठक के विवेक को प्राण-प्राण पुकारती पुस्तक है।

पुस्तकः खबर लहरिया : सुभाषिनी अली का स्त्री विमर्श
अनामिका प्रकाशन, 52 तुलाराम बाग, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण - 2005: मूल्य रु 50.00